धूप-दीप

विनोद-सीरीज़—७

धूप-दीप

लेखक

विनोदशङ्कर व्यास

प्रकाशक

पुस्तक-मन्दिर

काशी

धूप-दीप

पाँच कहानियाँ

हम मरने से नहीं डरते ; मगर इस तरह का मरना वैसा ही है, जैसा वधिक द्वारा जँगले वाली गाड़ी में पकड़े हुए कुत्तों का ।

यह तुम्हारी भूल है ।

मेरी भूल ! कदापि नहीं, देखो—हम लोग भी कुत्तों ही की तरह जेल में बन्द हैं ! जब वधिक रस्सी का फन्दा बनाकर सड़क पर भागते हुए कुत्तों की ओर फेंकता है, तब देखने वालों को तरस आता है और वे तालियाँ पीटकर 'धत्-धत्' चिल्लाते हुए उसे उस फन्दे से बचाना चाहते हैं। ठीक उसी तरह जब हम लोग गिरफ्तार होते हैं, तब दर्शक 'वन्दे

मातरम्! भारतमाता की जय!!' की पुकार मचाया करते हैं। यह ठीक वैसा ही है।

कानून भंग करने, जेल जाने और असहयोग करने के सिवा, देश के पास और कोई साधन भी तो नहीं है।

गुलामी का बदला—गुलामी का बदला—दाँत पीस कर कहते-कहते उसका मुँह आरक्त हो गया, सिर के बाल खड़े हो गये, भँवें तन गईं और उन खूनी आँखों में क्रान्ति की ज्वाला उठने लगी।

मैं आश्चर्य से उसकी ओर देखने लगा।

उसने फिर उसी स्वर में कहा—संसार के इतिहास में कोई भी ऐसा देश नहीं, जो विना युद्ध के स्वतंत्र हुआ हो। स्वाधीनता का मूल्य मृत्यु है। सपना देख कर कोई मुक्त नहीं हो सकता। आदर्श सिद्धान्त लेकर सब महात्मा नहीं बन सकते। मैं ईश्वर में विश्वास नहीं करता, मैं तो युद्ध में विश्वास करता हूँ। मैं कुत्तों की मौत नहीं चाहता, मैं योद्धा की तरह जूझना जानता हूँ।

मैंने बड़ा साहस करके कहा—मगर मैं तुम्हारी इन बातों में विश्वास नहीं करता, यह सब असम्भव है।

उसने कहा—एकदम नहीं?

मैंने कहा—नहीं।

न-जाने क्या समझकर वह चुप हो गया, फिर एक शब्द भी न बोला।

सन्ध्या अस्ताचल पर सो रही थी। हम दोनों जेल की चहारदीवारी के भीतर टहल रहे थे। वह पेड़ों के घने पल्लवों में अरुण किरणों का खेल देखने लगा। उसे लाल रंग अधिक पसन्द था; क्योंकि वह क्रान्ति का उपासक था।

मेरी दृष्टि उस बूढ़े जमादार पर पड़ी। वह हमीं लोगों की ओर आ रहा था। उसने पास आकर हम लोगों की ओर देखते हुए पूछा—क्या भागने की तरकीब लगा रहे हो?

मैंने कुछ उत्तर न दिया; क्योंकि उसने अपनी पतली बेंत की छड़ी हिलाते हुए कई बार मुझ पर अपशब्दों का प्रयोग किया था; मगर मेरा साथी यह सह न सका। उसने फौरन उत्तर दिया—जिस दिन भागना होगा, उस दिन तुमसे पूछ लूँगा।

जमादार मन-ही-मन भुनभुनाता हुआ चला गया। हम लोग भी कैदखाने की कोठरी में चले आये। उस दिन फिर उससे कोई बात नहीं हुई।

(२)

दमन आरम्भ हो गया था। असहयोग के दिन थे। जेलों की दशा मवेशीखानों से भी बदतर हो गई थी। खुली

सभा में जोशीला भाषण देने के अपराध में मुझे भी छः मास की सजा मिली थी। जेल में ही मेरी-उसकी जान-पहचान हुई। पहली बार सामना होने पर उसने आँखें गड़ा कर मेरी ओर देखा था, जैसे कोई अपने किसी परिचित को पहचानने की चेष्टा कर रहा हो। कुछ देर बाद मेरे समीप आकर उसने पूछा—कितने दिनों के लिये आये हो ?

मैंने कहा—एक सौ बयासी !

वह मेरी तरफ देखता हुआ मुस्कराने लगा। परिचय बढ़ा, घनिष्ठता हुई।

मेरे-उसके विचारों और सिद्धान्तों में बहुत अन्तर था ; लेकिन फिर भी मैं उसकी वीरता का आदर करता था।

दिन पहाड़ हो गये थे।

मैं जेल के कष्टों से जब घबरा उठता, तब यही विचार करता कि—हे भगवन्, कब यहाँ से छुटकारा होगा। घर की चिन्ता थी—बाल-बच्चे भूखों मरते होंगे। क्या करूँ, कोई उपाय नहीं। ऐसी देश-सेवा से क्या लाभ ? यहाँ तो घुल-घुलकर प्राण निकल जायगा ; किन्तु हमारे इस कष्टों से जकड़े हुए जीवन की बातें कौन समझेगा ? इस अभागे देश के लिए कितनों ने अपने प्राण निछावर कर दिये; मगर आज उनके नाम तक लोग भूल बैठे हैं। यह सब व्यर्थ

है, अभी इस देश के लिए वह समय नहीं आया है।

और, जब उसकी ओर देखता, तब हृदय में साहस उमड़ पड़ता। वह हँसते-हँसते प्राण तक उत्सर्ग कर देने में नहीं हिचकता। उसे किसी बात की जैसे चिन्ता ही न थी। वह इतनी लापरवाही से जेल में घूमता, हँसता और बोलता; मानों जेल ही उसका घर हो। उसकी इस दृढ़ता पर मैं मुग्ध था। अपने हृदय को मैं कभी-कभी टटोलने लगता। मैं सिद्धान्तवादी था—'अहिंसा परमो धर्मः'—मेरा आदर्श था। मुझ-जैसे लोगों को वह मन में कायर समझता था।

हमें आपस में बातें करने का कम अवसर मिलता था; क्योंकि हम लोग कैदी थे—गुलाम थे—राजद्रोही थे! वह अपने हृदय को खोलकर मुझे नहीं दिखा सकता था, और मैं भी अपनी बात उससे नहीं कह पाता था। पहरा बड़ा कड़ा था। जेल के निरंकुश शासन की जंजीरों में हम जकड़े हुए थे। फिर भी हम एक दूसरे को देखकर सब बातें समझ लेते थे। हमारी मौन भाषा थी।

इस तरह पाँच महीने समाप्त हुए!

(३)

मैंने पूछा—इस बार जेल से निकलने पर क्या करोगे?

उसने कहा—डाका—हत्या—पूँजीपतियों का विध्वंस—गरीबों का राज्य-स्थापन !

मैंने पूछा—विवाह नहीं करोगे ?

नहीं।

क्यों ?

वह एक दृढ़ बन्धन है।

तुम्हारे घर में कौन-कौन हैं ?

बूढ़े माँ-बाप और............

और ?—

कोई नहीं ; बड़ा भाई काला-पानी भेज दिया गया !

"......................"

"......................"

तब माँ-बाप का निर्वाह कैसे होता है ? घर की कुछ सम्पत्ति होगी ?

राजपूताने में जागीर थी, वह अब जब्त हो गई है।

उनके प्रति भी तुम्हें अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिये।

उनकी आज्ञा और आशीर्वाद से ही तो मैं यह सब कर रहा हूँ।

क्या तुम्हारे इस कार्य से वे हिचकते नहीं ?

नहीं। दुःख हम लोगों का सहचर है, और मृत्यु ही हमारा जीवन।

विचारों की इस भीषणता ने तुम्हारे हृदय को पत्थर बना दिया है!

हो सकता है।

तुमने कभी किसी को प्यार भी न किया होगा।

यह कैसे समझा?

तुम्हारी बातों से।

मेरे प्यार में मधुरता नहीं हो सकती, उसमें भी संसार को भस्म कर देने वाली ज्वाला भरी है।

उस दिन बहुत देर तक उससे बातें होती रहीं। मुझे अपना समझ कर उसने अपने प्रेम के सम्बन्ध में भी कुछ मुझसे कहा। वह एक दरिद्र की कन्या के प्यार को हृदय में छिपाये हुए था। उसकी माँ ने उस गरीब बालिका से विवाह करने की अनुमति भी दे दी थी। लड़की के पिता को भी स्वीकार था; मगर उसने यह कह कर टाल दिया कि अभी मेरे विवाह का समय नहीं आया है। बालिका की अवस्था इस समय सोलह वर्ष की है, अभी तक वह उसकी प्रतीक्षा में बैठी है।

आगे उसने कहा—देखता हूँ, अविवाहिता रहकर वह

अपना जीवन काट देगी ! मैं सत्य कहता हूँ, उस पर मेरा पूर्ण विश्वास है। उसमें दैवी शक्ति है। वह सदैव मुझे उत्साहित करती रहती है। वह वीर-बाला है। एक दिन उसने कहा था—मरने के लिए ही जन्म हुआ है—सदैव कोई जीवित नहीं रहेगा—फिर मृत्यु से भय कैसा ? उसकी यह बात मेरे हृदय पर अंकित है, मैं आजन्म इसे न भूलूँगा।

मैं एकाग्र मन से उसकी बातें सुन रहा था।

इस घटना के तीन दिन बाद, दूसरे जेल में उसकी बदली हो गई—वह मुझसे अलग हो गया।

उसके चले जाने पर मेरे लिए जेल सूनी हो गई। जिस दिन उसकी बदली हुई थी, उस दिन चलते समय मेरी ओर देखते हुए उसने कहा था—जेल से छूटने पर एक बार तुमसे भेंट करूँगा। आशा है, तुम मुझे न भूलोगे।

मैंने भी बड़ी सहृदयता से कहा था—तुम भूलने लायक व्यक्ति नहीं हो।

हथकड़ी-बेड़ियों को खनखनाते हुए—एक बार मुस्करा कर—मेरी आँखों से वह दूर हो गया।

उसके जाने के सातवें दिन बाद, मैं जेल के फाटक के बाहर निकला। कुछ दूर जाकर जेल की ओर उसी तरह देखता जाता, जैसे बन्दूक की आवाज सुनकर प्राण के भय

से भागता हुआ हिरन कहीं छिप कर अपने शिकारी को देखता जाता है।

छः महीने जेल में काटने के बाद, मुक्त होने की प्रसन्नता से उछलते हुए, दौड़ते हुए, घर आकर देखा, तो ब्रह्मा की सृष्टि ही बदल गई थी। मेरे सामने अन्धकार नृत्य करने लगा।

आभूषण और घर का सामान बेचकर मेरी पत्नी ने छः महीने काम चलाया। मेरे पहुँचने पर घर में भूजी भाँग भी न थी। बड़े फेर में पड़ा। सरकारी नौकरी भी नहीं कर सकता था। व्यवसाय के लिए पूँजी न थी। देश-सेवक का भेष बनाकर मैं भटकने लगा। कोई बात तक न पूछता।

दो वर्षों का समय केवल उलझनों में ही फँसा रहा। देशभक्ति के भाव दिन-पर-दिन शिथिल होते जा रहे थे।

एक दिन—पता नहीं, कौन-सा दिन था—मैं गृहस्थी का कुछ सामान लेने बाजार जा रहा था। मैं बड़ी जल्दी में था। कारण, जाड़े की रात थी। दूकानें आठ बजे तक बन्द हो जाती थीं।

मेरी बगल से घूम कर एक आदमी मेरे सामने आ कर खड़ा हो गया। मेरी ओर ध्यान से देखकर उसने कहा—रामनाथ!

उसे पहचानने की चेष्टा करते हुए आश्चर्य से मैंने कहा—अ...म ..र . सिंह !

उसने कहा—हाँ।

मैंने कहा—यह कौन-सा विचित्र भेष बनाया है ? तुम्हें तो पहचानना भी कठिन है !

लेकिन तुमने तो पहचान लिया।

मुझे भी भ्रम हो गया था। जेल से कब आये ?

दो महीने हुए। घर गया, तो माँ तड़प-तड़पकर मर गई थी। बूढ़ा बाप पागलखाने भेज दिया गया था। वहाँ जाकर उनसे भेंट की थी। वे मुझे पहचान न सके। मैं चला आया। अब अकेला हूँ। इस बार फाँसी है, गिरफ्तार होते ही।

यह क्या कह रहे हो ? मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा है !

देखो—वह दो-तीन सी० आई० डी० आ रहे हैं। अच्छा, चला।

देखते-देखते वह गायब हो गया। मैं भय से काँप रहा था। उसका चेहरा कितना भयानक हो गया था—ओह !

(४)

अन्धकार था। सूनसान नदी का किनारा साँय-साँय

कर रहा था। मैं मानसिक हलचल में व्यस्त घूम रहा था। अपनी तुलना कर रहा था—अमरसिंह से। ओह! कैसा वीर-हृदय है! और एक मैं हूँ, जो अपने सुखों की आशा में—गृहस्थी की झंझटों में—पड़ा हुआ मातृभूमि के प्रति अपना कर्त्तव्य भूलता जा रहा हूँ। मन में तूफान आया—अगर अमरसिंह से भेंट हो जाय—मैं फिर से उसके साथ ·········वह प्रायः यहीं तो टहलने आता है। उससे भेंट हो जाय, तो क्या ही अच्छी बात हो।

मैं जैसे अमरसिंह को खोजता हुआ उसी अंधकार में घूमने लगा। कुछ देर बाद, एक क्षीण कंठ से सुनाई पड़ा—अमरसिंह!

मैं चौंक उठा। पूछा—कौन?

उत्तर न मिला। मैंने कहा—डरो मत, मैं मित्र हूँ।···

अब एक रमणी सामने आकर देखने लगी। उसने कहा—मैं बड़ी विपत्ति में हूँ, आपसे यदि अमरसिंह से भेंट हो, तो उन्हें मेरे यहाँ भेज दीजिए।

आपके यहाँ?—मैंने आश्चर्य से प्रश्न किया—आपका नाम?

त्रिवेणी। उन्हें आज अवश्य भेज दीजिएगा।

न-जाने क्यों, उसकी बोली लड़खड़ा रही थी, और मेरा

भी कलेजा धड़क रहा था। मैं 'अच्छा' कहकर कुछ विचार करने लगा। इतने ही में वह स्त्री चली गई।

मैं नदी-तट पर जाकर बैठ गया। चुपचाप उसके प्रवाह को देखने लगा। अस्पष्ट भावनाओं से मेरा मन चिन्तित था। अब मैं अधिक प्रतीक्षा न करके घर लौटने की बात सोचने ही लगा था कि मेरे कन्धे पर किसी ने हाथ रखा। मैंने पूछा—कौन?

अमर!

तुम्हीं को तो खोज रहा था।

त्रिवेणी के यहाँ भेजने के लिए?

तुम कैसे जान गये?—मैंने आश्चर्य से पूछा।

अमरसिंह ने एक भयावनी हँसी हँसकर कहा—अपने जीवन-मरण के प्रश्न को मैं न जानूँगा, तो कौन जानेगा?

मैंने कुतूहल से कहा—क्या?

उसने कहा—रामनाथ, अच्छा हुआ कि घटना-वश तुम स्वयं इस बात से परिचित हो गये; नहीं तो मैं इस विश्वास-घात को न कभी किसी से कहता और न इसे कोई जान पाता।

विश्वासघात कैसा?

जिस पर मेरा विश्वास था, उसी त्रिवेणी का कुचक्र

है। एक दिन मैंने तुमसे कहा था कि वह वीर-बाला है, मेरी आराध्य देवी है, मेरे हृदय की शक्ति है; फिर जब वही संसार के प्रलोभनों में फँसकर मेरे जीवन का अन्त कर देना चाहती है, तब मैं उसके लिए क्यों लोभ करूँ ?

तुम क्या कह रहे हो अमरसिंह ?

एक सच्ची बात।

तब तुम न जाओ ।

ऐसा नहीं हो सकता, जाऊँगा और प्राण दूँगा।

नहीं, तुम मातृभूमि के लिए जीओ—

नहीं भाई, मातृभूमि के लिए मरना होता है।

किन्तु यहाँ तुम भूल कर रहे हो।

नहीं, रामनाथ, दिल टूट गया है। अब लुक-छिपकर जीवन की रक्षा करने का समय नहीं है। जाता हूँ।

अमरसिंह को रोकने का मेरा साहस न हुआ। उस अंधकार में जैसे उसकी आँखों से चिनगारियाँ निकल रही थीं।

मैं घर लौट आया।

स्वराज्य कब मिलेगा ?

इस संसार में कोई पता लगाये, तो उसे मालूम होगा कि प्रशंसकों से अधिक निन्दकों की संख्या है। ऐसा एक भी भाग्यशाली मनुष्य न होगा, जिसकी सभी प्रशंसा करने वाले हों।

केशव भी एक ऐसा ही मनुष्य था। दुनिया के लोग चाहे जो कुछ कहें, इसकी उसे कुछ परवाह नहीं; पर उसकी अपनी स्त्री जब भीषण आकृति बनाकर उसकी कीर्ति का गान करती है, तब उसका हृदय आग हो उठता है। यही उसे सबसे बड़ा दुःख था। वह मन मसोस कर रह जाता।

केशव गरीब था, नशे का गुलाम था। जो कुछ पैसा

आता, स्वाहा हो जाता और सदैव ही वह अपने को अभाव के पंजे में जकड़ा हुआ देखता। वह हज़ार बार मन में निश्चय कर चुका कि अब अपनी कमजोरियों को सुधार के बन्धन में बाँध कर अपने जीवन को सुखी बनावेगा; लेकिन नशे ने उसे बर्बाद कर दिया।

जब उसका कोई हितैषी समझाते हुए कहता—इस नशे के कारण तुम कितने दुर्बल होते जा रहे हो! देखो, आँखें बैठ गई हैं, शरीर लकड़ी हो रहा है; तब वह मुस्कराते हुए कहता—अरे भाई, मुझे तो बिला नशे के आदमी की सूरत प्रेत-सी मालूम पड़ती है।

समझाने वाला भी हँस पड़ता। ऐसा विचित्र था केशव!

वह गप्पी भी साधारण न था। गाँजे का दम लगा कर वह इन्साइक्लोपीडिया-ब्रिटानिका बन जाता। महात्मा गांधी ने ऐसा मन्त्र मारा कि अंग्रेजों की बुद्धि भ्रष्ट हो गई—यह उसका अंतिम उत्तर कभी-कभी देश की राजनीतिक अवस्था पर होता।

केशव था तो अपढ़; लेकिन कभी नशे में ऐसी अनूठी बातें कहता, जो उसके पास बैठे हुए साथियों की समझ में न आतीं। वे झूठ ही हाँ-में-हाँ मिलाते जाते—यह समझ कर कि केशव का नशा रंग पर चढ़ गया है।

मगर यह सब बातें बाहर के लिए ही थीं। घर में घुसते ही केशव अपराधी के समान अपनी पत्नी के सम्मुख खड़ा हो जाता। उसकी दुनिया-भर की योग्यता खाक में मिल जाती। अपनी कायरता के प्रति सैकड़ों जली-कटी बातें सुन कर भी वह चुप रहता। यही उसकी विशेषता थी।

कभी किसी दिलदार गप्पी से भेंट हो जाने पर रात को उसके जल्दी घर पहुँचने में अवश्य ही बाधा पड़ जाती थी। वह धुकधुकाता हुआ घर पहुँचता। द्वार खटखटाता। बहुत देर के बाद आँखें मलते और बड़बड़ाते हुए उसकी अर्धांगिनी ऊपर से कहती—जाओ, जहाँ इतनी देर तक थे, वहीं जाकर सोओ; यहाँ आने का क्या काम था?

दाँत निकाले हुए उस घोर अंधकारमयी रात्रि में केशव कहता—अरी, खोल दे, अब से फिर कभी विलम्ब न करूँगा।

केशव के सैकड़ों बार गिड़गिड़ाने पर कहीं वह पिघलती। बड़ी शोख औरत थी। भला-बुरा जजमेंट दे ही देती थी। उसकी इस शाही तबीयत पर कोई हँसता, कोई मुस्कराता!

(२)

उन दिनों देश में नई हलचल मची हुई थी। स्वसं-

न्त्रता के प्रभात में जागृति की किरणें फैल चुकी थीं। जीवन-मरण का प्रश्न खिलवाड़ हो गया था। केशव की अब सब से बड़ी असुविधा यह थी कि वह पहले की तरह आसानी से अपने नशे की चीज नहीं पा सकता था। लुक-छिप कर किसी तरह इतने दिन कटे थे; किन्तु अब समय बड़ा विकट आ गया। उसको भली भाँति प्रतीत होने लगा कि देश की वर्त्तमान समस्या के प्रति वह घोर अन्याय कर रहा है।

"एक वे हैं, जो दूसरों की भलाई के लिये अपना प्राण तक अर्पण करने को प्रस्तुत हैं और एक मैं हूँ........" ये विचार अनेक बार केशव के हृदय में उठे थे। प्रति-दिन वह निश्चय करता—अब कल से नशा नहीं करूँगा। सबेरा होता, दो पहर बीतती, संध्या हो जाती और वह नशे के लिये विकल हो उठता। उस पिकेटिंग के युग में भी अपनी कार्यसिद्धि पर उसे प्रसन्नता होती।

उस दिन की घटना कुछ ऐसी विचित्र हुई कि केशव का मन बदल गया। जीवन में पहली बार उसे अपने ऊपर घृणा हुई।

संध्या हो गई थी। चारों ओर मनहूसी छाई हुई थी। रोजगारी, व्यापारी, जमींदार, किसान, सभी हाहाकार कर रहे थे। नशे के ठीकेदारों की तो जीविका ही नष्ट हो रही

थी। दिन-भर वे हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहते; उनकी मातमी सूरत पर आगामी इतिहास के कुछ पन्ने स्पष्ट दिखाई दे रहे थे।

'महात्मा गांधी की जय!

भारत-माता की जय!!

वह देखो। गाँजा खरीदने वाला आ गया है।'

स्वयंसेवकों का दल चौकन्ना हो कर देखने लगा। केशव खिड़की के सामने आकर खड़ा हो गया। देखा, उस जूते सीनेवाले मोची के चरणों पर कितने ही सनातनधर्मियों की सन्तानें अपना मस्तक पवित्र कर रही थीं; मगर वह किसी की नहीं मानता था। हाथ जोड़ कर, पैर पकड़ कर, बहुतेरा समझाया; पर वह किसी तरह न माना—अटल हिमाचल बना रहा।

भीड़ में से किसी ने कहा—अरे पुलिस का भेजा हुआ है।

दूसरे ने इसका समर्थन किया—ऐसा ही है साला!

केशव चुपचाप एक कोने में खड़ा यह सब दृश्य देख-सुन रहा था।

कोलाहल मचा। भीड़ के लोग उसे चपत जमा रहे थे। स्वयंसेवक ऐसे लोगों को मना कर रहे थे। दो स्वयं-

सेवक दोनों पैर पकड़े हुए बैठे थे। स्थिति भयानक होती जा रही थी।

उसी समय लाल-पगड़ी का दल सामने आता दिखाई दिया। दर्शक देशभक्त लोग जान ले कर भाग चले ! जनता खलबला उठी। स्वयंसेवक साहस के साथ डटे रहे।

दारोगा ने आगे बढ़कर स्वयंसेवकों को हटाने की चेष्टा की ; किन्तु सफल नहीं हुआ। अन्त में झुँझला कर उसने हंटर-प्रहार करना आरम्भ किया।

केशव अब तक देखता रहा। अब उसकी सहन-शक्ति के बाहर की बात हो गई। उसने बड़ी दृढ़ता से कहा—

'छिः ! इस तरह निरपराधी बालकों को पीटते आपको लज्जा नहीं आती ? धिक्कार है !'

'इसे भी पकड़ो।'—कहते हुए दारोगा ने सिपाहियों की ओर शासन-भरी दृष्टि से देखा।

आज्ञा का पालन हुआ। केशव को भी पकड़ कर उन स्वयंसेवकों के साथ ले चले।

मकानों की छत पर से स्त्रियों ने कहा—वन्देमातरम् !

बालकों का झुंड चिल्ला उठा—इनक़लाब जिन्दाबाद !

उस वर्ष, देश के प्रत्येक नगर में, प्रति-दिन ऐसी घटनाएँ होती रहीं।

(३)

बरसात की काली रात सन्नाटे से आलिंगन कर रही थी। मनुष्य, पक्षियों की भाँति, संध्या से ही अपना मुँह छिपा कर घर में पड़े रहते थे। प्रति-दिन तलाशियों की धूम मची थी। राजभक्त लोग भी न बच सके। देश के अधिकांश नेता गिरफ्तार कर लिए गये थे। हड़ताल के कारण बेकारी बढ़ रही थी। नगर में ऐसा भयानक दृश्य था, मानों महाश्मशान पर भैरवी नृत्य कर रही हो। बड़ी विकट समस्या थी!

केशव पिट जाने और गालियाँ खाने के बाद थाने से बाहर निकाल दिया गया। पानी बरस रहा था। उस सूनसान सड़क से वह चला आ रहा था। उसके हृदय में प्रतिहिंसा के भाव जागृत हुए। वह जैसे समस्त अत्याचार को पल-भर में प्रलय की अशान्त लहरों में डुबो देने की कल्पना में लीन हो गया।

सहसा कुत्तों के भूँकने से वह सचेत हुआ। घर न जाकर वह कांग्रेस के शिविर की ओर चला। वह अपने अटल प्रण पर दृढ़ता की साँस भरते हुए शिविर के द्वार पर खड़ा हो गया। मंत्री अभी तक बैठे काम कर रहे थे। कल नगर-भर के कार्य-कर्त्ताओं का सम्मिलित जलूस निक-

लेगा और बड़ी जोरदार सभा होगी। उसी की व्यवस्था में सब व्यस्त थे।

मंत्री ने बाहर देखते हुए कहा—कौन है ?

मैं हूँ।

भीतर आइये।

केशव चुपचाप सामने जाकर खड़ा हो गया। लोग ध्यान से उसे देखने लगे। उसने अपना सब वृत्तान्त सुना कर कहा—आज से मैं अपना जीवन स्वतंत्रता के चरणों पर उत्सर्ग करने के लिए उद्यत हूँ। मेरा भी स्वयंसेवकों में नाम लिखिए।

कांग्रेस के रजिस्टर में केशव का नाम स्वयंसेवकों में लिख लिया गया। उस दिन से केशव ने एक नवीन संसार में पदार्पण किया।

(४)

कुछ समय बीता। नगर में कोलाहल मचा हुआ था। कांग्रेस का दफ्तर गैर-कानूनी बताकर जब्त कर लिया गया। सभी प्रमुख नेता जेल चले गये थे। 'आर्डिनेंसों' का बोलबाला था।

अमावस्या की रात थी। गली में बड़े धड़ाके की आवाज आने लगी! लोग बड़े आश्चर्य और कौतूहल से अपनी

खिड़कियों से झाँकने लगे। लोगों ने देखा, एक आदमी टिन का कनस्तर लकड़ी से पीट रहा है। एकाएक वह गली के मोड़ पर खड़ा हो गया और एक स्वर से कहने लगा—भाइयो, सावधान हो जाओ; हमारी राष्ट्रीय महासभा का प्रत्येक कार्यालय जब्त कर लिया गया है। अब हम लोगों का कहीं ठिकाना नहीं है। इसी पर विचार करने के लिए कल......। पर सभा होगी और दिन-भर हड़ताल रहेगी।

कहता हुआ वह आगे बढ़ गया। स्त्रियाँ भय से काँप रही थीं। पुरुष वर्त्तमान अवस्था के भविष्य पर टीका-टिप्पणी कर रहे थे।

कल सभा में जाने का साहस छूट गया था। तिरंगा झंडा लेकर और रंग-बिरंगे कपड़े पहन कर टिड्डियों की तरह निकलनेवाला जन-समूह न जाने कहाँ चला गया था। अब देश की स्वतंत्रता के लिए तलवार की धार पर चलने वाले सैनिकों की माँग थी। हड़ताल की सूचना देने वाला इसी तरह का सैनिक प्रतीत होता था; क्योंकि ठीक चौमुहानी पर पुलिस-कान्स्टेबिल के सामने खड़ा हो कर उसने उसी दृढ़ता से कनस्तर पीटते हुए उन्हीं शब्दों को दुहराया, और आँखें गड़ाता हुआ चला गया।

इधर-उधर नगर के अनेक भागों में अपना कार्य सम्पन्न

करते हुए वह अपने घर की ओर विजयी सैनिक की भाँति चला आ रहा था।

ठीक अपने मकान के सामने खड़ा होकर उसी तरह कनस्तर पीटते हुए उसने कहा—कल लड़ाई होगी, देश के प्यारे नवजवानो! तैयार रहो।

ऊपर से किसी स्त्री ने कहा—भला-भला, सुन लिया गया—आओ अब।

पड़ोस के किसी आदमी ने पूछा—कल क्या हड़ताल है केशव? इस हड़ताल ने तो जान मार डाला यार!

'वह समय अब आ गया भाई—देखो न, अपनी आँखों से देखोगे।'—कहता हुआ केशव अपने घर में घुस गया।

अपनी कोठरी में पहुँच कर केशव ने एक कोने में कनस्तर रख दिया और खूँटी पर टोपी-कुरता उतार कर टाँग दिया। उसकी पत्नी चुपचाप उसकी ओर देख रही थी। केशव दिन-भर का थका हुआ था।, वह चारपाई पर बैठ गया। उसकी स्त्री ने पूछा—यह रोज दूकानें बन्द करने से आखिर क्या फायदा होता है?

अपढ़ केशव ने बड़ी गम्भीरता से कहा—इससे यह मालूम होता है कि लोग महासभा की आज्ञा मानते हुए

एकता को अपना रहे हैं और एकता होने पर स्वराज्य बहुत शीघ्र मिलेगा।

कल क्या होगा ?—उसकी स्त्री ने उत्सुकता से पूछा।

कल जीवन-मरण का प्रश्न है।

क्यों ?

मन्त्री कहते थे कि कल अवश्य ही रक्तपात होगा। हुक्म नहीं है सभा करने का ; लेकिन उसकी परवाह न करते हुए सभा अवश्य होगी, और पुलिस अपनी लाठियों का खेल दिखलायेगी।

तब तुम कल मत जाना।

यह कैसे हो सकता है ? इस शान्तिपूर्ण युद्ध में मरने के बाद भी स्वर्ग है—स्वतंत्रता है।

इसके बाद केशव बहुत देर तक अपनी स्त्री से जी खोल कर बातें करता रहा। स्त्री के अनेक प्रश्नों का उसने बड़ी समझदारी से उत्तर दिया। उसकी आँखें चमक रही थीं और मुखड़े पर एक अपूर्व क्रान्ति अपना तेज प्रगट कर रही थी।

(५)

पुलिस ने 'पार्क' की चहारदीवारी को घेर लिया था। भीतर सभा हो रही थी। सड़क पर सैनिक परेड कर रहे थे।

सभा में सम्मिलित होने के इच्छुक कायर बन रहे थे। गली की भीड़ में से और इधर-उधर अपने घर की छत से लोग यह भयानक दृश्य देख रहे थे।

पुलिस किसी आज्ञा की प्रतीक्षा कर रही थी। इतने में एक अफसर ने आकर कहा—सभा भंग कर दो।

उस समय एक महिला वक्तृता दे रही थी। लोग शान्त बैठे सब देख रहे थे। वक्तृता देनेवाली महिला के शब्द गूँज रहे थे—'हमें आज्ञा मिली है कि सैकड़ों लाठियाँ खाने पर भी हम हिंसा के कार्य न करें—हँसते-हँसते अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दें। देश की स्वतन्त्रता के लिए यही हमारा कर्तव्य है, और वह समय आज आकर सामने खड़ा हो गया है। उसके लिए अब आप तैयार हो जाइये।'

सभा भंग करने की आज्ञा पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। ठीक उसी समय लाठियों का प्रहार आरम्भ हुआ।

सभा में कुछ महिलाएँ भी बैठी थीं।

कोई वीर सिपाही आगे बढ़कर महिलाओं के ऊपर झुका! केशव भी उछल कर वहाँ जा पहुँचा।

उसने उत्तेजित स्वर में कहा—तुम्हें लज्जा नहीं आती अपनी माँ-बहनों पर आक्रमण करते?

उसी क्षण वह महिलाओं को अपनी छाया में आश्रय देकर खड़ा हो गया।

उसके प्रश्न का उत्तर शब्दों से नहीं, लाठियों से मिला। रक्त की धारा बह चली! बेचारा बुरी तरह घायल हुआ। गिरने पर भी दो लाठियाँ और पड़ीं!

उसका माथा फट गया था। आँखें निकल आई थीं। धीरे-धीरे उसकी साँस चल रही थी। महिलाएँ अपने आँचल से उसका रक्त पोंछ रही थीं।

देखते-देखते केशव क्षण-भर में मृत्यु की गोद में सो गया!

'नहीं रखनी ज़ालिम सरकार' की आवाज़ से आकाश-मंडल गूँज उठा!

• • •

एक वर्ष समाप्त हुआ।

समझौते का डंका बज उठा। आन्दोलन रोक दिया गया।

समस्त संसार में बेकारी बढ़ गई। व्यवसाय नष्ट हो गया। प्रत्येक मनुष्य पैसों के नाम पर उदासीनता प्रगट करने लगा। और, भारतवर्ष का तो सर्वनाश ही समझिये।

महात्मा गांधी लंडन गये। नेताओं का बाजार कुछ शिथिल-सा हो गया। गरीबों के सामने रोटी का प्रश्न बड़ा जटिल हो उठा।

केशव की पत्नी को विश्वास था कि अपने पति को खोकर भी उसे रोटी के लिए चिन्ता न रहेगी ; स्वराज्य हो जायगा, और फिर तो उसे न जाने क्या-क्या मिलेगा।

किन्तु उसकी आशा प्रगाढ़ अंधकार में डूब रही थी। हताश होकर स्वयंसेविकाओं में उसने भी नाम लिखा लिया। प्रायः शराब की दूकान पर पिकेटिंग करते हुए जब उसके साथ की स्त्रियाँ प्रसन्न-वदन राष्ट्रीय गीत गाया करती हैं, तब भी वह तिरंगा झंडा लिए उदास-मुँह चुपचाप बैठी रहती है।

शिविर से जो अन्न मिलता है, उससे पेट की ज्वाला शान्त करके अपनी कोठरी में पड़े-पड़े उसने अनेक बार विचार किया कि इस लड़ाई में केवल गरीबों की ही हानि हुई ; पैसे वाले अब भी उसी तरह सुख से दिन व्यतीत कर रहे हैं।

उसने कई बार नगर-कांग्रेस के दफ्तर में जाकर पूछा—स्वराज कब मिलेगा, और मिल जाने पर मुझे क्या मिलेगा ?

उसके इस प्रश्न पर लोग हँस देते हैं !

और अब ?

उस दिन राज-तिलक था। शताब्दियों से बने हुए नियम के अनुसार नन्ददेव अपनी पैतृक भूमि के राजा होंगे। प्रजा में बड़ा उत्साह था।

बूढ़े मंत्री ने आकर कहा—महाराज, वह शुभ मुहूर्त्त आ गया है; अब आप शीघ्र ही प्रस्तुत हो जायँ। राज-सभा में आँखें बिछाकर प्रजा आपकी प्रतीक्षा कर रही है।

तरुण नन्ददेव ने मंत्री की ओर देखते हुए कहा—बूढ़े नागरिक! इस राज्य की पूर्ण स्थिति को जानते हुए भी मैं तुमसे पूछता हूँ कि ऐसे समय क्या यहाँ किसी राजा की आवश्यकता है?

मंत्री ने नम्रता से झुककर कहा—धर्मावतार, आपके प्रश्न के तात्पर्य को मैं नहीं समझ सका। प्रजा को राजा की आवश्यकता क्यों नहीं है ?

नन्ददेव ने उत्तेजित होकर कहा—इस राज्य में लोग दाने-दाने को तरस रहे हैं। मनुष्य, मनुष्य को हिंस्र पशु के समान खाने दौड़ता है। ईर्ष्या, द्वेष और कलह का आतंक छा गया है। दरिद्रता के टूटे प्रासाद में विलासिता अपना शृंगार कर रही है। चोरी, हत्या और दुराचार बड़ी तीव्रता से बढ़ रहे हैं। जानते हो इसका कारण ?

मंत्री आँखें नीची किये हुए चुप था।

न्याय, शासन और नियमों का दुरुपयोग किया गया। राजा अपने कर्त्तव्य को भूल बैठा। प्रजा मनमाने मार्ग पर भटकती रही। अपने पूर्वजों के कलुषित जीवन के कारण आज लज्जा से मस्तक झुका लेना पड़ता है, और बूढ़े नागरिक ! इन भयानक कार्यों में तुम्हारा कितना हाथ था, यह भी तुम भलीभाँति जानते हो !

इतना कहते-कहते नन्ददेव मंत्री की ओर देखने लगे।

मंत्री ने हाथ जोड़कर कहा—अपने अपराधों के लिए मैं क्षमा-याचना करता हूँ।

नन्ददेव ने कहा—तो चलो, आज राज-सभा में अपराधों का प्रायश्चित्त किया जाय।

× × ×

राज-सिंहासन पर खड़े होकर नन्ददेव ने स्वाधीनता की घोषणा की। उन्होंने कहा—मुट्ठी-भर अन्न के लिए आँचल पसारनेवाले मेरे नासमझ भाइयो, आज आप लोग मुझे उस कलुषित राज-सिंहासन का उत्तराधिकारी बनाने के हेतु उपस्थित हुए हैं, जिसपर बैठकर मनुष्य स्वच्छन्दता-पूर्वक मनुष्य के ऊपर हज़ारों वर्षों से अत्याचार करता आ रहा है। मैं प्रसन्नता के साथ उसका त्याग करता हूँ। मैं आप लोगों का राजा नहीं, साथी हूँ—सेवक हूँ। मैं भी आप ही लोगों की तरह एक साधारण प्राणी हूँ।

मैं आकाश और पृथ्वी को साक्षी करके कहता हूँ—कुसुमपुर के प्रत्येक नागरिक का समान अधिकार है। भूमि, सम्पत्ति और राजा के अधिकार में जो कुछ धन है, उन सब में आप सब लोगों का बराबर हिस्सा है।

जनता आश्चर्य से चकित हो उठी।

ग़रीबों और किसानों ने 'धन्य है! धन्य है!!' की पुकार मचाई।

धनियों और पदाधिकारियों ने एक साथ कहा—असंभव है! ऐसा नहीं हो सकता!

(२)

बहुल समय बीत गया।

कुसुमपुर में हाहाकार मचा था।

बालक, युवक, वृद्ध और वनिताएँ—सभी शोक में पड़े थे। नन्ददेव सदैव के लिये सबका साथ छोड़कर चले गये थे।

कुसुमपुर का प्रत्येक पुरुष, उस पवित्र आत्मा के लिये विलाप करता हुआ, अर्थी के साथ गया था।

श्यामला नदी के तट पर चन्दन की चिता धधक रही थी। चैत्र-पूर्णिमा थी। निशाकर, प्रकाश की उज्ज्वल माला लेकर, स्वागत कर रहे थे।

प्रकृति अपना राग अलाप रही थी। ऐसा राग, जिसे कभी अचानक सुनकर लोग कह बैठते हैं—आह! संसार में कुछ नहीं है।

चिता की उठती लपटें टेढ़ी, सीधी, हिलती-डोलती-सी, 'कुछ नहीं है' के स्वर पर ताल दे रही थीं।

ऐसे समय नन्ददेव का कीर्ति-गान हो रहा था। राजा न होते हुए भी वे कुसुमपुर के पथ-प्रदर्शक थे। उनसे सब का स्नेह था।

चिता जल चुकी थी। कुसुमपुर की प्रजा आश्चर्य, कुतूहल और शोक से देख रही थी।

सबसे पहले उस बूढ़े मंत्री ने श्रद्धा से झुककर चिता की राख को अपने मस्तक पर लगाया। इसके बाद अन्य लोगों ने उसका अनुकरण किया।

मंत्री ने अपनी झुकी हुई कमर को सीधी करने की चेष्टा में, जनता की ओर देखते हुए, गला साफ करके कहा—

जंगल में जिस तरह पशुओं का शासक सिंह रहता है, उसीतरह देश में मनुष्यों का शासक राजा होता है। भगवान् ने मनुष्यों को पशुओं से अधिक समझदार बनाया है और इसीलिए, पशुओं के राजा के समान, मनुष्यों का राजा, जब अपनी प्रजा का भक्षक बन जाता है, तब अत्याचार की आलोचना होने लगती है, न्याय और अन्याय की मीमांसा होती है और प्रत्येक मनुष्य के हृदय में यह प्रश्न उठने लगता है कि किसी के ऊपर किसी को शासन करने का क्या अधिकार है ? ऐसा समय कुसुमपुर के इतिहास में अनेक बार आया है। महाराज नन्ददेव ने राजा के महत्त्व को अपने जीवन से समझा दिया है। अब कुसुमपुर के लिए हमें फिर एक शासक—एक राजा—एक पथ-प्रदर्शक—की आवश्यकता आ पड़ी है।

जनता ने साहस से कहा—हमें राजा नहीं, नन्ददेव चाहिये। हम स्वतंत्र हैं।

इस घटना को बीते कई सौ वर्ष हो गये।

तब से सैकड़ों बार राजा और प्रजा का झगड़ा उठा। परिस्थितियों ने कभी प्रजा और कभी राजा के पक्ष में अपना अभिमत दिया!

और अब?

उलझन

रात हो चली थी। रामेश्वर अपने कमरे में लेटा हुआ लम्प के धीमे प्रकाश में किसी समाचारपत्र के पन्ने उलट रहा था। उसी समय बगल के कमरे से एक चीत्कार हुई और फिर धमाधम का शब्द!

वह आश्चर्य से आहट लेने लगा। मालूम हुआ, कोई पुरुष किसी स्त्री को पीट रहा है। वह चौकन्ना होकर बैठ गया।

बूढ़ी समझा रही थी—जाने दो, अब न मारो, बस हो गया। पर वह निर्दय किसी की नहीं सुनता था।

रामेश्वर कमरे के बाहर आ गया। देखा—बगल वाले

कमरे में जो केरायेदार रहता है, अपनी स्त्री की पीठ-पूजा कर रहा है।

वह बीच-बीच में कहता जाता—अरी कुलटे ! तेरे ही कारण आज मेरा जीवन कष्टमय हो गया है। ओह! पिशाचिनी ! तूने कभी चैन से रहने नहीं दिया।

मकान के और लोग चुपचाप यह दृश्य देख रहे थे। किसी का साहस नहीं होता था कि उसे जाकर छुड़ाये।

वह पुरुष क्रोध के आवेग में कहता जाता था—दिन भर हाय-हाय कर पेट के लिये परिश्रम कर थका हुआ लौटता हूँ, तो यहाँ भी शान्ति नहीं—आज तेरा प्राण लूँगा—और अपना भी अन्त करूँगा।

सहसा उस बूढ़ी स्त्री ने उस पुरुष का हाथ पकड़कर कहा—बेटा निरंजन, जाने दो। जो हुआ सो हुआ। अब शान्त हो जाओ। इसका क्या बिगड़ेगा। दुनिया उलटे तुम्हारा ही दोष देगी।

रामेश्वर इतनी देर में इस झगड़े के रहस्य से परिचित हो गया। बूढ़ी, निरंजन की माँ थी।

निरंजन की स्त्री और उस वृद्धा से अनबन रहा करती। वृद्धा दिन-भर उसके रहन-सहन की टीका-टिप्पणी किया करती; सदैव काव्य की भाषा में ही उससे बातचीत करती!

यही कारण था कि उस छोटी-सी गृहस्थी में कलह का आतंक छा गया था।

रामेश्वर ने देखा, निरंजन का क्रोध भयानक रूप धारण कर रहा है, और वह झपट कर फिर अपनी स्त्री की ओर बढ़ा। वह बेचारी असहाया विलाप कर रही थी। कैसी करुण मूर्त्ति थी!

रामेश्वर का हृदय काँप उठा। वह अपने को अब न सम्हाल सका। आगे बढ़कर द्वार के सामने खड़ा हो गया। लोग बड़े ध्यान से उसकी ओर देख रहे थे। उसने निरंजन को सचेत करते हुए कहा—भाई साहब, आपको यह शोभा नहीं देता; एक अबला के ऊपर आप इस तरह प्रहार कर रहे हैं, आपको लज्जा नहीं आती? खबरदार! बस हो चुका। अब यदि आपका हाथ चला, तो अच्छा न होगा!

निरंजन की खून से लाल आँखें रामेश्वर के ऊपर गड़ गईं। उसने लड़खड़ाते हुए कहा—आप कौन होते हैं?

उसी समय रामेश्वर का पक्ष लेकर मकान के और लोग सामने आये। उन लोगों ने कहा—हमलोगों के सामने आप अब ऐसा निन्दनीय कार्य नहीं कर सकते।

निरंजन की अवस्था वैसी ही जटिल हो गई, जैसी उस दारोगा की होती है, जो किसी सत्याग्रही को गिरफ्तार करके

ले जाता है और जनता उसपर घृणा तथा तिरस्कार की वर्षा करती है !

निरंजन शान्त हो गया। उसकी स्त्री ने अपनी डब-डबाई आँखों से रामेश्वर की ओर देखा। उसी दिन से उसके हृदय में रामेश्वर के प्रति श्रद्धा का भाव निवास करने लगा।

निरंजन की स्त्री का नाम था उर्मिला।

(२)

यदि किसी से पूछा जाय कि संसार में सबसे बड़ा सुख का साधन क्या है, तो वह यदि झूठ न बोले, तो उसका उत्तर होगा—नारी !

लेकिन इसी दुनिया में बहुतेरे ऐसे लोग भरे पड़े हैं, जिनका जीवन स्त्रियों ही के कारण हाहाकारमय हो गया है। वे प्राण देकर भी उस बन्धन से मुक्त होने के लिए प्रस्तुत हैं। निरंजन भी ऐसे ही लोगों में से एक था।

जिस उर्मिला के स्वागत में सम्भवतः कोई नवयुवक आँखें बिछा कर दिन और रात एक कर देता, वही उर्मिला निरंजन के लिए विष की प्याली बन गई है !

उस दिन से रामेश्वर के मन में उर्मिला के प्रति एक स्वाभाविक सहानुभूति जागृत हुई। अपने कमरे में बैठ कर वह प्रायः उर्मिला की बातें सुना करता था, जिनसे वह

उसके सम्बन्ध में कुछ अधिक पता लगा सके—उसके स्वभाव का अध्ययन कर सके।

इतने दिनों में रामेश्वर को ऐसा प्रतीत होने लगा कि उर्मिला सुन्दरी है, सरल है, नम्र है और परिश्रमी भी है। फिर उसे पाकर निरंजन संतुष्ट क्यों नहीं होता !

चार बजे सबेरे से उठकर उर्मिला जो गृहस्थी के काम में लगती, तो फिर उसे दिन भर जैसे अवकाश ही न मिलता कि कभी वह अपने सुख की सुन्दर कल्पना में लीन हो। और, इस पर भी जब उठते-बैठते, वह बूढ़ी—निरंजन की माँ—व्यंग के बाण छोड़ती, तो उसका हृदय तिलमिला उठता।

उर्मिला आत्माभिमानिनी थी। बुढ़िया की दृष्टि में यह सब से बड़ा अपराध था ; वह चाहती थी कि जिस तरह दिन भर उर्मिला काम करती है, उसी तरह बीच-बीच में कभी-कभी दो-चार खरी-खोटी बातें भी सुनकर अपने भाग्य को सराहे—और उसका उत्तर, मुँह फुलाकर नहीं, बल्कि हाथ जोड़कर, दे।

निरंजन की माँ की इस प्रवृत्ति को वे लोग भली भाँति समझ सकते हैं, जिन्हें कभी हिन्दू-समाज के गार्हस्थ्य जीवन में ऐसी दो-चार बूढ़ियों को देखने और समझने का अवसर प्राप्त हुआ हो।

युवतियाँ संकट के समय भी उल्लास-भरे मन से हँसती-बोलती हैं, यदि पति के स्नेह की शीतल छाया के नीचे दो घड़ी विश्राम करना उनके भाग्य में बदा हो।

किन्तु उर्मिला के भाग्य में वह भी नहीं था। उसका पति न जाने क्यों ऐसा नीरस था, जैसे जवानी की उन्मत्त आकांक्षाओं से तृप्त हो चुका हो। ठीक भी है, उसका यह दूसरा विवाह था; पहली स्त्री मर चुकी थी।

निरंजन की प्रवृत्ति विवाह की ओर नहीं थी; किन्तु अपनी माँ के कष्टों का ध्यान करके उसे विवाह करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

कुछ लोग ऐसी मनोवृत्ति के भी होते हैं, जिनके मस्तिष्क में पत्नी का अर्थ 'दासी' और विवाह का अर्थ 'गुलामी का पट्टा' होता है!

संभव है, निरंजन ने अपने विवाह के समय इसी मंत्र का प्रयोग किया हो।

(२)

रामेश्वर अकेला था। उसके घर-गृहस्थी न थी। वह दफ्तर में नौकरी करता, होटल में भोजन करता और केराये पर एक कमरा लेकर वहीं सोता था। जिस मकान में वह रहता था, उसके निवासी तथा पड़ोसी तक यह नहीं समझ

सके थे कि रामेश्वर किस देश का निवासी है, उसके घर में कौन-कौन हैं, इत्यादि। कभी उससे कोई पूछता भी, तो वह कहता—मैं अकेला हूँ—ऐसा अकेला, जिसका कोई 'अपना' नहीं है।

अधिकतर रामेश्वर के सम्बन्ध में लोग अनुमान से ही काम लेते। वह सब के लिये एक पहेली बन गया था।

रामेश्वर जब कभी उर्मिला को मैली धोती पहने हुए गृहस्थी के कार्य में व्यस्त देखता, तब उसके हृदय में दर्द-भरी टीस होती।

रामेश्वर दफ्तर से लौटा था। अपने कमरे के सामने आकर उसने देखा—दरवाजे में जो ताला लगा हुआ था, वह खुला है। सामने उर्मिला खड़ी थी। निरंजन की माँ घर में नहीं थी, वह किसी सम्बन्धी के यहाँ गई थी।

रामेश्वर ने उर्मिला की ओर देखा—वह जैसे कुछ बोलना चाहती थी। उसने आँखें नीची करते हुए कहा—आज आप ताला बन्द करना शायद भूल गये थे!

कमरा खोलते हुए रामेश्वर ने कहा, मेरे पास है ही क्या? फिर भीतर जाकर उसने देखा, कमरे का बिखरा हुआ सामान क्रम से सजा रखा है। उसे नवीनता मालूम हुई। कमरा जैसे बोल रहा था! उर्मिला कुछ और समीप आ गई थी।

रामेश्वर ने पूछा—मालूम होता है, इस कमरे को जीवन-दान देने वाली तुम्हीं हो।

उर्मिला की एक गंभीर मुस्कराहट ने रामेश्वर के शरीर में बिजली दौड़ा दी।

वह आपसे बहुत रुष्ट हैं—उर्मिला ने कहा।

कौन ? निरंजन ?

हूँ !

क्यों ?

उस दिन जो आप मेरी तरफ से बोले थे !

उसमें रुष्ट होने की क्या बात थी, वह उनका अन्याय था।

मेरे भाग्य फूटे हैं !

इसमें सन्देह नहीं उर्मिला ! तुम्हें पाकर कोई भी पुरुष अपने दिन सुनहले बना सकता है।

उर्मिला अपनी दृष्टि दौड़ाने लगी, क्योंकि बूढ़ी के आने का समय हो गया था। 'कहीं किसी ने हमारी बातें सुन तो नहीं लीं ?'—यही प्रश्न क्षण-क्षण उसे सताने लगा।

इतने में उसने देखा, सचमुच सीढ़ियों पर बूढ़ी चढ़ रही है। उर्मिला भय से काँपती हुई अपने कमरे में घुस गई, लेकिन रामेश्वर उसी तरह खड़ा रहा।

निरंजन की माँ का दम फूल रहा था। वह हाँपती हुई रामेश्वर की ओर वैसे ही देखने लगी, जैसे मदारी के मटके की नागिन !

रामेश्वर उस श्रेणी का नवयुवक है, जिनका सिद्धान्त यह होता है कि यदि हम सत्य और उचित मार्ग से चलते हैं, तो हमें भय किसका है ?

वृद्ध लोग बहुधा ऐसे विचारों को जवानी की उच्छृंखलता अथवा अक्खड़पन समझ कर नाक-भौं सिकोड़ लेते हैं।

रामेश्वर अभी तक निर्णय नहीं कर सका था कि वास्तव में उर्मिला के प्रति उसके ऐसे सद्भाव क्यों हैं! क्या यह प्रेम का अंकुर है ? पता नहीं, किन्तु रामेश्वर यही समझता है कि उर्मिला को दयनीय दशा के कारण ही उसके हृदय में उस अभागिनी के प्रति सहानुभूति है। इसमें उसकी कोई निन्दा करे, तो उसे इसकी परवा नहीं।

दुनिया तो बड़े-बड़े दार्शनिकों, महात्माओं और विद्वानों तक की निन्दा करती है। इससे क्या होता है ? इसके लिए रामेश्वर सन्तोष किये बैठा है।

रामेश्वर अब वहाँ व्यर्थ खड़ा रहना उचित न समझ अपने कमरे में चला गया।

बूढ़ी, रामेश्वर की ओर भयानक दृष्टि से देखती हुई, आगे बढ़कर अपने कमरे में गई। उसकी कर्कश गर्जना में जली-कटी बातें आपस में टकराती चली जा रही थीं। कोई भावुक आगे खड़ा होकर सुनता, तो अवश्य ही कहता, यह रबड़-छन्द में बोल रही है।

सबेरे मकान की अन्य स्त्रियाँ आपस में बातें कर रही थीं। रात-भर निरंजन और उसकी माँ की नीचता ने किसी को सोने न दिया था।

निरंजन ने उर्मिला को ऐसा मारा था कि उसकी नाक से खून बहना बन्द नहीं हुआ था।

किन्तु रामेश्वर उस दिन कुछ नहीं बोला। वह चुपचाप सब सुनता रहा—देखता रहा।

(४)

दिन, अँधेरी रात की तरह, काले हो गये थे।

आज दिन-भर रामेश्वर का मन बड़ा उदास था। वह अपने जीवन की बिखरी उलझनों को बटोर कर कहीं भाग जाना चाहता था। उसे ऐसा प्रतीत होता कि इस नगर के कोलाहल में शान्ति, सुख और कुछ रस नहीं है।

'घर, स्त्री, बच्चे; कोई नहीं—फिर कैसा बन्धन? अकेला रहने में भी चैन नहीं, कोई मजा नहीं। इस दुनिया में किसी

तरह सुख नहीं—सुख कहाँ है ? मनुष्य उसे कैसे पाता है ?'
इन प्रश्नों पर हजारों बार रामेश्वर विचार कर चुका है ;
लेकिन आज तक इन्हें वह सुलझा न सका।

संसार में कोई अपना न होते हुए भी सबको अपना समझना पड़ता है। किसी को अपना समझ लेने में कितना बड़ा सुख अट्टहास करता है !

एक मकान में रहते हुए भी रामेश्वर ने दो दिनों से उर्मिला को देखा नहीं था। बूढ़ी उसे कमरे के बाहर निकलने नहीं देती थी।

प्रभात का समय था। उर्मिला बहुत तड़के ही उठी थी। उसे रामेश्वर से कुछ आवश्यक बातें करनी थीं। वह अवकाश ढूँढ़ रही थी। उसके घरवाले अब सो रहे थे। बाहर आकर उसने देखा, रामेश्वर का कमरा बन्द था। वह कैसे जगाती ? उसका साहस नहीं होता था ; एकाएक उसने द्वार पर धक्का दिया। रामेश्वर ने द्वार खोला ; उसने आश्चर्य से, आँखें मलते हुए, उर्मिला को देखा।

उर्मिला ने बहुत शीघ्रता से और धीमे स्वर में कहा—आपसे एक बहुत जरूरी बात कहनी है।

क्या ?

वे लोग इस मकान को छोड़ रहे हैं।

मेरे कारण ?

हाँ, इस मकान में अधिक सुविधा के साथ वे मुझे भरपूर कष्ट नहीं दे पाते, इसीलिए।

इधर कई दिनों से मैं स्वयं इस कमरे को छोड़ देने का विचार कर रहा हूँ। अब मुझसे देखा नहीं जाता; किन्तु मेरा क्या वश है ?

परसों जानेवाले हैं, दूसरा मकान ठीक हो गया है।

तो तुम यहाँ से चली जाओगी ?

मृत्यु ही मेरे कष्टों को छुड़ा सकती है, किन्तु भगवान यह भी नहीं देते। ओह! अब नहीं सहा जाता।

उर्मिला के नेत्रों से अविराम अश्रुधारा बह रही थी। एक दर्द-भरी आह खींचकर वह चली गई।

रामेश्वर आज दफ्तर नहीं गया। उसका अव्यवस्थित मन इधर-उधर भटकने लगा। वह क्या करे, क्या न करे—यह नहीं समझ पाता था।

समाज के इन प्रचलित नियमों को कौन बदल सकता है ? निरंजन से अलग होकर उर्मिला कहीं जा नहीं सकती ? क्या उसे अधिकार है ? नहीं।

किन्तु, निरंजन जिस दिन चाहे, उसे दूध की मक्खी की तरह निकाल सकता है !

रामेश्वर स्वयं अपने मन से पूछने लगा कि उसे क्या अधिकार है कि उर्मिला के हृदय के सम्बन्ध में इस तरह के सैकड़ों विचारों में उलझता रहे। उर्मिला, निरंजन की स्त्री है; वह जो चाहे करे!

क्या रामेश्वर उसे अपनी बनाना चाहता है? नहीं तो! संभव है कि वह यह भी जानता हो कि दूसरे की स्त्री को अपनी बनाकर वह कभी सुखी न रह सकेगा। फिर?

वह उर्मिला को सुखी देखना चाहता है। आज उर्मिला उससे जो बातें करने आई थी, उसका तात्पर्य यही तो नहीं था कि उसके कारण ही परिस्थिति और भयानक होती जा रही है और वह खुलकर उसे चले जाने के लिये न कह सकी हो।

उसने निश्चय किया—अब, यहाँ रहने से, उर्मिला के कष्ट मेरे ही कारण बढ़ते जायँगे। अतएव, यह कमरा छोड़ देना ही मेरा कर्त्तव्य है।

रामेश्वर उसी दिन मजदूरों को लाकर अपना सामान होटल में उठवा ले गया।

× × ×

अपने जीवन के पिछले दिनों में रामेश्वर के मन में यही उलझन रहती थी कि उसके मकान छोड़ देने में उर्मिला सहमत थी या नहीं!

दफा ३०२ खूनोंका मुकदमा था! नगर भर में इस हत्या की चर्चा थी। अभियुक्त, हथकड़ी-बेड़ी से लदा हुआ, कोर्ट के द्वार पर, लाल-पगड़ी के शासन में, खड़ा था।

शान्तिप्रकाश ने चौंककर देखा—उसके नाम की ही पुकार हो रही थी। सिपाही लोग उसे धक्का देते हुए भीतर ले गये। वह अजायब-घर के एक जन्तु की तरह देखा जाने लगा।

दो दिन कारावास में कटे थे, आज मुद्दालेह का बयान था। कठघरे में खड़ा अभियुक्त शान्तिप्रकाश कितना भयानक हो गया था—देखने लायक दृश्य था! उसकी सरक्त

आँखें कितनी गम्भीर हो गई थीं ! आँखों में एक डरावना तेज था ! निर्भीकता से उसने जज को अपना लिखित बयान दिया, जो इस तरह था—

× × ×

मैं दरिद्रता की गोद में पला हूँ। सुख किसे कहते हैं, मैं नहीं जानता। मेरी माता का देहान्त, जब मैं पाँच वर्ष का था तभी, हो गया था। मेरे पिता नौकरी करते और मैं उन्हीं के साथ रहता था। पिता को छोड़ इस संसार में मेरा कोई अपना न था। सब अपने दिन पूरे करके चले गये थे। पिताजी के जीवन का एकमात्र उद्देश्य था कि मैं पढ़-लिख कर होनहार बनूँ, मेरा भविष्य उज्ज्वल हो। उनके वेतन में से आधे से अधिक केवल मेरे पठन-पाठन में व्यय होता था। वृद्धावस्था में भी घोर परिश्रम करके २०) रुपये मासिक से अधिक वे पा ही न सके। मेरे सुख की कल्पना करके उन्होंने अपने सुख को मिट्टी में मिला दिया था।

इसी तरह कई वर्ष व्यतीत हो गये। मैं बड़े परिश्रम से अध्ययन करता रहा। एंट्रेंस पास हो गया था। उसी साल, न जाने कैसे व्यवस्था करके, पिताजी ने मेरा विवाह कर दिया था। अब, भोजन हम लोगों को अपने हाथ से न बनाना पड़ता था। किन्तु विवाह होने पर झंझट और भी बढ़

गई !! २०) मासिक में निर्वाह न हो पाता, अतएव रात्रि के समय भी पिताजी को एक जगह काम करने जाना पड़ता था। मुझसे उनका कष्ट देखा न जाता ; किन्तु करता ही क्या ? कोई उपाय न था!

मैंने एक दिन उनसे कहा—बाबूजी, अब तो मैं सयाना हो गया हूँ, एंट्रेंस भी पास कर चुका ; आज्ञा दीजिये, तो कोई नौकरी कर लूँ।

उन्होंने बड़ी गम्भीरता से उत्तर दिया—बेटा, अभी तुम्हारा पढ़ने का समय है, नौकरी तुम्हें कहाँ मिलेगी ? एंट्रेंस वालों को पन्द्रह रुपये पर भी कोई नहीं पूछता। कम-से-कम तो बी० ए० पास कर लो, ता कि भविष्य में भली भाँति अपना निर्वाह कर सको।

मैं चुप हो गया। फिर कभी यह प्रश्न नहीं उठाया। मैं कालेज में पढ़ने लगा।

तीन वर्ष और समाप्त हो गये।

मेरी स्त्री अपने इस जीवन से सन्तुष्ट थी। जैसे उसे कोई लालसा ही न हो ! पिताजी उसका बड़ा आदर करते थे। दरिद्रता के भीषण तांडव-नृत्य में भी वह हँसती हुई दिखाई देती थी। उसकी ऐसी मनोवृत्ति देखकर मैं मन-ही-मन प्रसन्न होता था, अपने को भाग्यशाली समझता था।

उस वर्ष मैंने बी० ए० की परीक्षा दी थी, सफलता की पूर्ण आशा थी ; किन्तु भगवान से मेरा इतना सुख भी न देखा गया, एकाएक मेरे ऊपर वज्र गिर पड़ा। पिताजी बीमार पड़े, दो दिन की बीमारी में ही चल बसे !

अन्तिम समय में उन्होंने मुझसे कहा—बेटा, मैं अपने इस सांसारिक जीवन की परीक्षा दे चुका, भगवान ने मुझे उत्तीर्ण कर दिया है—मैं जा रहा हूँ, तुम सुखी रहो।

वे चले गये। मेरे मन में दो बातों की कलक रह गई—एक तो वह मेरे पुत्र को न देख सके, जो उनकी मृत्यु के दो मास पश्चात् पैदा हुआ और दूसरी यह कि मैं अपने उपार्जित धन से उनकी कुछ सेवा न कर सका।

मेरे कष्टों ने अपना और भी भयङ्कर रूप बना लिया। पुत्र हुआ। दरिद्रता जीवन से परिहास कर रही थी। मेरी समझ में न आता, क्या करूँ ! घर में भोजन का प्रबन्ध न था। मेरी पत्नी की बड़ी ही शोचनीय दशा थी। शरीर पीला पड़ गया, एक सूखा कंकाल मात्र बच गया था। मैंने उसके कुछ आभूषणों को बेंचकर काम चलाया।

मैं बी० ए० पास हो गया था। कई स्कूलों और दफ्तरों में नौकरी के लिये मैंने प्रार्थना-पत्र भेजे थे, किन्तु परिणाम कुछ न हुआ। मैं बेकार कई महीने तक चेष्टा

करता रहा। अन्त में मुझे एक स्कूल में अध्यापक का स्थान मिला, वेतन ३०) मासिक था।

मैं बड़े परिश्रम से अध्यापन-कार्य करता रहा। कुछ लड़के मेरी पढ़ाई से असन्तुष्ट थे। प्रधानाध्यापक और अन्य अध्यापकगण मेरी ओर से सदा उदासीन रहा करते। इसका मुख्य कारण था, मेरा फटा कोट, सिली हुई धोती और मैली टोपी! मेरी स्थिति ही ऐसी न थी कि मैं अपने जीवन में वस्त्रों द्वारा कुछ परिवर्तन कर डालता, इसलिये उन लोगों से हिल-मिल न सका। उनकी दृष्टि में रुखाई देखकर मुझे साहस भी न होता था।

छ मास के बाद मुझे स्कूल छोड़ देने के लिये सूचना मिली। कारण यह बतलाया गया कि विद्यार्थी पढ़ाई से असन्तुष्ट हैं।

विवश होकर मैंने स्कूल छोड़ दिया। अब कोई साधन न रहा। बहुत चेष्टा की; किन्तु इस बार तो निराश ही होना पड़ा। कहीं स्थान न मिला। पड़ोस के कुछ बालकों को पढ़ाकर चार-पाँच रुपये मिल जाते। आधे पेट और उपवास से दिन कटने लगे।

मनुष्य-मात्र से घृणा हो चली। कभी सोचता—मनुष्य इतना भयानक क्यों है? लोग एक दूसरे को खा जाने के लिये

प्रस्तुत क्यों हैं ? मनुष्य ने ईर्षा, द्वेष, घृणा की रचना करके संसार में अपना विचित्र रूप प्रगट किया है। आह ! संसार में प्रलय क्यों नहीं होता—आग क्यों नहीं लगती—लोग उसमें क्यों नहीं जल जाते—हाहाकार क्यों नहीं मचता कि मैं भी उसी में जल कर अपनी इस दुर्बल आह को बुझाकर शान्त कर देता ?

ईश्वर में अश्रद्धा हो गई। नहीं-नहीं, विश्वास ही उठ गया ! पुण्य और पाप में, नरक और स्वर्ग में, सन्देह होने लगा।

मेरी पत्नी बालक को गोद में लेकर रो रही थी। मैंने पूछा—तुम क्यों रोती हो ? मरना तो है ही, रोकर क्यों प्राण दिया जाय ?

उसने सिसकते हुए कहा—आपके कष्टों को देखकर रोती हूँ।

मैंने कहा—संसार में मनुष्य कितना झूठ बोलते हैं ! धन ही सब कुछ है। 'ईश्वर' नाम की कोई चीज़ नहीं है।

उसने च · च···च··करते हुए कहा—ऐसा न कहो ; ईश्वर है। उसपर अविश्वास करना पाप है। यह तो हम लोग अपने पूर्व-जन्म का फल भोग रहे हैं।

मैंने समझा, यह मूढ़ है। यह इन रहस्यों को क्या सम-

झेगी। यदि ईश्वर होता, तो अन्याय न करता—निर्धन और धनी की श्रेणी न बनाता—एक को विलास और ऐश्वर्य का सम्राट् बनाकर दूसरे को एक-एक दाने के लिये मुहताज न करता !

दिन-भर का उपवास था। उस दिन भोजन का कोई प्रबन्ध न था। बालक तक भूखा था। घर में कुछ बर्तनों के सिवा कुछ न बचा था। पीतल का एक पुराना लोटा लेकर मैं बाजार में उसे बेचने के लिये गया। उसे बेचा; उस दिन का काम चला। रात-भर नींद न आई; हृदय में भीषण कोलाहल था। विचार करने लगा—

भीख भी नहीं माँग सकता! पढ़ा-लिखा आदमी हूँ, कैसे साहस होगा ?

फिर ?

आत्महत्या करूँ ?

नहीं, वह कैसे हो सकता है ? स्त्री और पुत्र फिर क्या करेंगे ? उनका निर्वाह कैसे होगा ?

तब, उनका भी अन्त कर दूँ ? किन्तु साहस नहीं! ऐसी स्त्री की, जिसने अपना सब सुख मेरे चरणों पर अर्पित कर दिया है—आह! उस देवी की, हत्या मैं कैसे कर सकूँगा ?

उन्मत्त विचारों में परस्पर उत्तर-प्रत्युत्तर हुआ।

मैंने अपनी मृत्यु के अनेक उपायों का अन्वेषण किया। दरिद्रता का नृत्य देखते-देखते कभी मेरे नेत्रों के सम्मुख सड़कों और गलियों में पड़े अधमरे, अन्धे, लँगड़े, लूले और भूखे भिखारियों के चित्र फिरने लगते। मैं तड़पने लगता। मेरा दम घुटने लगता। मैंने मन में फिर कहा—दरिद्रों के लिये क़ानून क्यों नहीं बनाया जाता कि उनको फाँसी दे दी जाय, बस उनके कष्टों का एक साथ ही अन्त हो जाय। मैंने निश्चय कर लिया कि मैं ही उनकी हत्या करके उनको कष्टों से छुड़ा दूँगा और अन्त में इसी अपराध में अपने को भी सांसारिक दुःखों से मुक्त कर सकूँगा।

दूसरे दिन मैंने अपनी स्त्री से कहा—तुमको मेरे कारण बड़ा कष्ट उठाना पड़ा है। सचमुच तुम्हारा अभाग्य था जो मेरे साथ तुम्हारा विवाह हुआ। तुम देवी हो, मैं तुम्हारे योग्य न था।

मेरी आँखें छलछला उठीं।

उसने आश्चर्य से मेरी ओर देखते हुए कहा—आप ऐसी बातें क्यों करते हैं ?

वह रोने लगी।

दिन बीत गया। रात हो चली थी। मैं घर से निकला। वह सो रही थी। मैं जी भरकर उसके सरल सौन्दर्य को

देख लेने की चेष्टा कर रहा था। अन्तिम भेंट की कल्पना थी। हाथ में छुरा लेकर घर से निकला। सन्नाटे में भटक रहा था।

गंगा-तट पर आया। देखा, एक भिखारी पड़ा था। मैं वहीं खड़ा हो गया। मेरी नस-नस में उन्माद का संचार हो रहा था। वह पड़ा हुआ कराहता था।

मैंने पूछा—क्या चाहते हो? क्या सुख चाहिये?

उसने बड़े धीमे स्वर में कहा—बाबू, मर रहा हूँ, जान भी नहीं निकलती!

मैंने तीखे स्वर में पूछा—जान देना चाहते हो?

उसने कहा—हाँ ······ न ···· हीं।

जान दे देने पर ही तुम्हें सुख मिलेगा—कहते हुए मैंने छुरे को उसकी छाती के पार कर दिया। वहाँ से, खून से लथपथ हाथों से, आकर थाने में अपना बयान दिया, जो आपके सामने है। मैं अपने अपराध को स्वीकार करता हूँ, मुझे इससे अधिक कुछ नहीं कहना है। मुझे फाँसी चाहिये, इसीमें मुझे शान्ति मिलेगी।

हाँ, एक बात के लिये मैं कोर्ट से प्रार्थना करता हूँ कि वह मेरे बच्चे और स्त्री को भी फाँसी देकर मेरी अन्तिम अभिलाषा पूर्ण करे। संसार में मृत्यु से बढ़कर हम लोगों के

लिये कोई सुख नहीं है। अतएव शीघ्र-से-शीघ्र हमारा निर्णय हो।

—शान्तिप्रकाश, बी० ए०

× × ×

(२)

जज ने ध्यान से उसके लिखित बयान को पढ़ा। उसने बार-बार अपनी बड़ी-बड़ी गम्भीर आँखों से अपराधी की ओर देखा। सरकारी वकील खड़ा था। कोर्ट शान्त था। प्रश्न आरम्भ हुए। दर्शक उत्सुकता से आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे थे।

जज ने पूछा—हाँ, तो तुम मरना चाहते थे ? क्यों ?

और अब भी चाहता हूँ।

मरने के लिये क्या यही सर्वोत्तम उपाय तुमने सोचा था ? मरने के और भी ढङ्ग थे।—जज ने शासन की आँखों से देखते हुए कहा।

अभियुक्त चुपचाप अपनी खूनी आँखों से जज की तरफ देख रहा था ; उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

क्या तुम उत्तर नहीं दोगे ?—जज ने फिर पूछा।

मैं अपने बयान से कुछ अधिक नहीं कहना चाहता। मैं मृत्यु-दंड चाहता हूँ, मुझे फाँसी चाहिये, फाँसी ! जीते-

जागते कठपुतलो ! मुझे व्यर्थ क्यों छेड़ते हो ? धन की लालसा में रक्त की धारा बहा देनेवालो ! मुझसे बहस न करो। ऐश्वर्य के कुञ्ज में विहार करनेवाले धनिको ! तुम्हें क्या मालूम, कंकड़ों पर सोने में कितनी व्यथा है—भूखे पेट की क्या हालत होती है ? बस, बस, अब विलम्ब न करो। शान्ति से मुझे मरने दो। मेरा निर्णय करो।

सब आश्चर्य से इस विचित्र अभियुक्त को देख रहे थे।

जज आँखें गुरेरता हुआ देख रहा था। सरकारी वकील ने धीरे से कहा—हुजूर, यह बड़ा भयानक मालूम पड़ता है।

प्रश्न बन्द हुए। जूरियों से जज ने सम्मति ली। अपने कमरे में जाकर फैसला लिखा—बीस वर्ष के लिये कालापानी !

फाँसी नहीं हुई !!

अभियुक्त ने फैसला सुनकर कर्कश स्वर में कहा—तड़पा तड़पा कर मारने से अच्छा है कि एक ही बार मार डालो।

जज ने शेर की तरह गरज कर कहा—वहाँ तुम्हारे भोजन का प्रबन्ध सरकार कर देगी। चुप रहो।

सिपाहियों की ओर देखते हुए जज ने संकेत किया—ले जाओ इसे यहाँ से।

बेड़ी खनखनाई। सिपाहियों ने गर्दन पर झटका देते हुए कहा—चल !

(३)

दस वर्ष के बाद—

शान्तिप्रकाश पोर्ट-ब्लेयर के पास, समुद्र-तट पर, पत्थरों के बाँध बना रहा था। फावड़ा रखकर, पसीना पोंछते हुए, उसने एक बार समुद्र का भीषण हाहाकार देखा। किरणें डूब रही थीं। उस जगह और कोई कैदी न था। अन्धकार हो चला था। सब अपने झोपड़ों की तरफ लौटने लगे। सहसा पास के झुरमुट से चिल्लाने का स्वर सुन पड़ा।

शान्ति-प्रकाश उधर दौड़ा। उसने देखा कि एक कुली एक स्त्री पर अत्याचार किया ही चाहता है। न जाने क्यों, उसका फावड़ा वेग से चल पड़ा। बेचारी स्त्री उस कुली के अत्याचार से मुक्त होकर शान्तिप्रकाश को देखने लगी—और वह उसे देखने लगा।

दूसरे ही क्षण स्त्री ने कहा—मेरे नाथ! मेरे स्वामी!!

शान्तिप्रकाश ने पूछा—गोमती! तुम हो? और किशोर कहाँ है?

स्त्री ने कहा—किशोर भूख से तड़प कर मर गया। उसका अन्तिम संस्कार कैसे किया जाता, इसलिये उसके शव को झोपड़ी में ही रखकर मैंने आग लगा दी। मैं भी उसी अपराध के कारण द्वीपान्तर का दंड पाकर आई हूँ।

शान्तिप्रकाश और गोमती की आँखों में जैसे आँसू सूख गये थे। वह भयानक मिलन बड़ा ही कठोर था।

शान्तिप्रकाश ने विचार करते हुए कहा—अच्छा, चलो, हम लोगों को भागना पड़ेगा। सम्भवतः यह आदमी मर गया। तुम्हारी और किशोर की कथा बाद में सुनूँगा, पहले जीते रहने का प्रबन्ध करना पड़ेगा।

दोनों को उस धुँधले में किसी के आने का सन्देह होने लगा। वे भाग चले। वे भागते-भागते फिर उसी समुद्र-तट पर आये।

दोनों हाँफ रहे थे। अब उनका पकड़ा जाना निश्चित था; क्योंकि पुलिस पास पहुँच चुकी थी।

शान्तिप्रकाश ने निराश दृष्टि से एक बार गोमती की ओर देखा।

उसने भी आँखों की भाषा में कहा—हाँ!

दोनों, हाथ में हाथ मिलाकर, समुद्र में कूद पड़े!

मुद्रक—श्रीप्रवासीलाल वर्मा, मालवीय, सरस्वती-प्रेस, काशी।